

उपन्यासकार जैनेन्द्र कुमार के नारी-चरित्रों में 'सुखदा' और 'रंजना' का चारित्रिक-वैशिष्ट्य

डा. गिरीश चंद्र जोशी

एसोसिएट प्रोफेसर

श्री अरविंदमहाविद्यालय(सांध्य)

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संपूर्ण हिंदी कथा-साहित्य में जैनेन्द्र कुमार के नारी-पात्र बेहद चर्चित, उल्लेखनीय पर उतने ही विचारोत्तेजक विवादास्पद भी हैं। उनके कथा-साहित्य में और विशेष रूप से उपन्यास-साहित्य में नारी पात्र ही सर्वप्रमुख एवं सर्वाधिक उभरकर पाठकों के सम्मुख आते हैं। अपने प्रथम उपन्यास 'परख' (1929) से शुरू करके अपनी अंतिम उपन्यास कृति 'अनाम स्वामी' (1974) तक के सभी उपन्यासों में उपन्यासकार जैनेन्द्र कुमार ने पुरुष-पात्रों की अपेक्षा नारी पात्रों अथवा चरित्रों को ही कथावस्तु का केन्द्रबिन्दु बनाया तथा वैयक्तिक-चेतना के स्तर पर 'दुनिया की आधी आबादी' की आंतरिक अनुभूतियों का बेहद सुंदर, रोचक, विचारोत्तेजक और बेबाक चित्र प्रस्तुत किया है। युगीन संक्रमणशील परिस्थितियों के अंतर्गत उन्होंने नारी चरित्रों को परम्परित जीवन मूल्यों के निकषपर चित्रित न करके उनके द्वारानव-मूल्यों की स्थापना का एक महत्वपूर्ण साहसिक कदम उठाया और अपने नारी-चरित्रों को आक्रामक एवं विद्रोहात्मक तेवरों से लेश करते हुए एक विशिष्ट वैचारिक चिंतन प्रदान किया। अतः जैनेन्द्र की औपन्यासिक नारियां, उद्दाम वैयक्तिकता के स्तर पर विद्रोह से सृजित हैं। "हां, उनका वो विद्रोह कितना स्वीकार्य या अस्वीकार्य है, यह एक अलग विषय है किंतु वर्तमान संदर्भों पर परिदृश्य में उसे कदापि नकारा या झुठलाया नहीं जा सकता। अस्तु,

उपन्यासकार जैनेन्द्र कुमार के प्रसिद्ध उपन्यास 'सुखदा' की नायिका का नाम ही सुखदा है जो पत्नीत्व एवं प्रेयसीत्व की गहन उलझन में फंसी हुई है। पूरे उपन्यास के अंतर्गत वह द्वंदात्मक चेतना से ग्रसित एक आधुनिक नारी है जो कांत की पत्नी तथा क्रांतिकारी लाल की प्रेयसी के रूप में पाठकों के समक्ष उपस्थित होती है। अपनी असाधारण अहंमन्यता के कारण अतृप्त-कुंठित बनी रहने से वह हीनता-ग्रंथि से ग्रसित हो चली है। वह खुद टूटती नहीं है, 'घर' टूटने लगा है परंतु 'बाहर' को बनाने की कोशिश में वह फिर भी असफल मिलती है। अपने नाम 'सुखदा' के सर्वथा विपरीत वह अपने लिए और पूरे परिवार के लिए वस्तुतः 'दुखदा' ही सिद्ध होती है।

कथानक क्रांतिकारी पृष्ठभूमि में त्रिकोणात्मक प्रेम-कथा के बीज जरूर विद्यमान हैं किंतु प्रधानता नायिका की ही बनी होती है। सुखदा की अतृप्त-कुंठित महत्त्वकांक्षाओं के अनूठे चित्र पूरे उपन्यास में

बिखरे पड़े हैं। कहना न होगा कि सुखदा का समस्त वातावरण व परिवेश अमितनैराश्य और कुंठाओं की असीम भावनाओं से आक्रांत है। नायिका सुखदा घर, परिवार और प्रेम, राजनीति के मध्य दीवार घड़ी के पेंडुलम की भांति इधर-उधर घूमती रहती है। परिवार के रूप में यह उस आधुनिक नारी की घोर विडंबना है जो 'घर और बाहर' एवं 'विवाह और प्रेम' का समन्वय करना चाहती है, पर अंत में उसके हाथ में कुछ भी नहीं आता। सुखदासुसंपन्न घर की बड़े स्नेह से पालित -पोषित एक नवयुवती है जिसकी शादी उसके घर के स्तर से गिरे हुए व्यक्ति से हो जाती है। दांपत्य जीवन की शुरुआत में वह पति से प्राप्त असीम प्रणय एवं निश्चल स्नेहापूरित से खूब प्रसन्न और मुग्ध दिखती है परंतु जीवन की सच्चाईयों व विषमताओं से सामना होने पर अभाव, मिथ्याभिमान और असंतोष की अनेकानेक लहरें उसके मानस में हलचल मचा देती हैं। अपनी पारिवारिक जिंदगी से असंतुष्ट होकर सार्वजनिक जीवन की ओर वह अपने जीवन की दिशा मोड़ देती है। किंतु सुखदा द्वारा क्रांति का सीमित अर्थ लेने के कारण वह मात्र अपने परिवेश के असंतोष के विरुद्ध क्रांति करती हुई वासनात्मक पतन की ओर गिरती मिलती है। वास्तव में, नारी-स्वातंत्र्य की आड़ में सुखदा अपने कुंठित-निराश-विकल नारीत्व को बंधन-मुक्त करना चाहती है।

वस्तुतः 'सुखदा' में क्रांति की जो कथा वर्णित की गई है उसमें कहीं भी क्रांति का गौरव प्रकट नहीं हो पाता है। हां, क्रांतिकारियों के क्रियाकलापों का सैद्धांतिक, व्यावहारिक एवं बौद्धिक विश्लेषण अवश्य देखने को मिलता है। देखा जाए तो, पूर्व-स्मृतियों पर आधृत समूची कथा तीन चरणों में प्रकट होती है—प्रथम, सुखदा में मिथ्याभिमान और हीनता-ग्रंथि का होना, द्वितीय, उसके 'घर' में 'बाहर' का प्रवेश और तृतीय, क्रांतिकारी-दल की सदस्या बनकर वहां उसका वासनात्मक पतन। तभी तो सुखदा को कहना पड़ता है, कि: --'यह कैसा जीवन का व्यंग्य है। चारों ओर से काट -काटकर अपने को अलग करती गई, और एकाकी बनकर जिधर भागती हुई चली आई हूं, वहां देखती हूं --रेत, रेत, रेत। केवल मृगतृष्णिका। जल वहां नहीं है, रेत हीलहलहाती मालूम होती रही है। अब थक रही हूं। दम बाकी नहीं रह गया है। भीतर का नेह इस भागदौड़ में सुखाती रही हूं। अब सब चूक गया मालूम होता है। ऐसे समय इस अपार रेगिस्तान के बीच आ पड़ी हूं--ऊपर तपती घाम, नीचे जलती बालू, चारों ओर विजनता। लौटने तक का उपाय नहीं। दम कब टूटकर साथ छोड़ता है, यही एक बाट है।'⁹

सुखदा का समूचा व्यक्तित्व अहं-प्रधान और मानसिक अंतर्द्वंद्व से आक्रांत है। उसके जीवन का उद्देश्य मात्र भौतिकवादी है। वह पति की सनातन दासतासे उन्मुक्त व स्वच्छन्द जीवन की वकालत करके अपनी वेदना और कुंठा को परितुष्ट करना चाहती है। पति कांत के विरुद्ध अपने पत्नीत्वको अस्वीकार कर वह प्रेयसीत्व की ओर अग्रसरित होकर क्रांतिकारियों के दल में जाकर भी असफल रहती है। और इसीलिए उसके जीवनांतर्गत समर्पण एवं समझौता तक जाने वाली किसी प्रकार की निष्ठा का नितांत अभाव है। सुखदा को अपने पति से एक प्रकार का जो प्रोत्साहन मिलता है वह वस्तुतः उसे पर-पुरुष की ओर आकर्षित करने में एक महती भूमिका निभाता दिखता है। उपन्यास में दोनों संबद्ध पुरुष पात्रों में

से कोई भी नायिका सुखदाके समक्ष उभर नहीं पाता है। क्रांतिकारी लाल के व्यक्तित्व में सुखदा अपने जीवन की सार्थकता खोजती है। वह लाल के प्रति जो समर्पण करती है उससे उसका नैतिक व चारित्रिक पतन होता है—“मैं उठकर आई, उनके पैरों में बैठकर बोली, मुझे मार दो, मुझे मार दो --- लगा जाने क्या ऊपर से उतर गया है, भीतर से खुल गया है। मानो मैं हल्की हो आई हूँ। जैसे मीठी धूप में लजाती, खिलती, इठलाती, हल्की-फुल्की बदली होंऊँ।” सुखदालाल के संसर्ग से जिस क्रांति की ओर उन्मुख होती है, वह वस्तुतः उसकी पारिवारिक हार की परिचायक है। उसकी क्रांति-विषयक यह उन्मुखतामूलतः उसके असाधारण अहं और पति के प्रति बढ़ते आक्रोश व असंतुष्टि की अभिव्यक्ति मात्र है—मन के भीतर जो अतृप्ति थी, शायद वही इस भांति फूटकर अपने को बुझाती और हठात तृप्ति का स्वाद पाना चाहती थी। फिर धीरे-धीरे उसमें अर्थ भी जान पड़ने लगा। मन कुछ व्यस्तता चाहता था, अपने आप से दूर कहीं फंसना चाहता था।⁴

क्रांति का अनुगमन करते हुए एक ओर सुखदा अपने पत्नीत्व की असंतुष्टि व विफलता को भूलने का अनथक प्रयास करती है, तो दूसरी ओर क्रांतिकारी लाल के प्रति आकृष्ट होकर प्रेयसीत्व को उजागर करने का। लेकिन जिस अस्थिर गति से वह पत्नीत्वका परित्याग करके तीव्र आवेग में प्रेयसीत्व की ओर अंधाधुंध दौड़ती है, उसी आवेग की परिणति उसके प्रति लाल की निर्मोही वृत्ति में विकसित मिलती है। विवाहिता सुखदा का लाल के प्रति वासनात्मक झुकाव उसके प्रेयसीत्व को भी गौण बना देता है। इस प्रकार, जहां उसका पत्नीत्व असफल होता दिखता है, वहीं दूसरी ओर प्रेयसीत्व भी कम असफल नहीं, क्योंकि लाल भी उसके सामर्पण के स्तर पर निर्मोही बनकर उसका परित्याग करके चला जाता है। आत्म-कथात्मक शैली में सुखदा रोगिणी बन सेनेटोरियम में मौत की आखिरी घड़ियां गिनते हुए मनोमंथन पेश करती है और प्रकारान्तर से अपनी भूलों व करतूतों की आत्म-स्वीकृति कर पश्चाताप भी--सोचती हूँ कि मेरा भी कोई स्थान होगा। काली बूंद की भी कोई जगह होगी। वह बूंद अपने आप में तो काली ही है, फिर भी विधाता ने जाने इस निरंतर बनते-बिगड़ते, फिर भी सदा वर्तमान चित्र पर बूंद के कालेपन से क्या मतलब साधा है।⁵

उपन्यासकार जैनेंद्र कुमार के ‘दशार्क’ (1985) शीर्षक उपन्यास की नायिका का नाम रंजना है। उपन्यासान्तर्गत रंजना एक नवयुवती है जो मानवीय जीवन को एक प्रयोग समझती है तथा प्रयोग करने में हिचकती नहीं है। लेकिन प्रयोग करने हेतु वह जो कदम उठाती है उसमें वह पूर्ण साहसी, स्वतंत्र होते हुए उतनी ही विवादास्पद भी है। रंजना को लेकर हिंदी जगत में ‘सुनीता’ की तरह कई प्रश्न और विवाद खड़े हुए तथा उपन्यासकार जैनेंद्र कुमार को कई तरह के आक्षेपोंय प्रहारों का भी सामना करना पड़ा। “उनसे साक्षात्कार लेते हुए एक बार पूछा गया कि रंजना के रूप में क्या आपने एक वेश्या को ही सम्मान देने की कोशिश नहीं की है ? क्या कॉलगर्ल को आप समाज में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। जैनेंद्र कुमार का स्पष्ट उत्तर था कि रंजना नवेश्या है ना कॉल गर्ल ।

देखाजाए तो, रंजना वास्तव में एक वेश्या नहीं है। उपन्यास में वह उच्च शिक्षिता, संभ्रांत घर की नारी है जिसकी शादी एक शिक्षित नवयुवक के साथ होती है। शादी के सात वर्ष उपरांत जब वह मां बनती है, तब तक उसका घर, परिवार टूट जाता है और वह अपने ससुराल -मायके से अलग हो गई। यहां उसके पत्नी रूप का अंत होता है और एक नवीन रमणी का उदय या आविर्भाव होता है। रंजना का वास्तविक नाम सरस्वती था। उपन्यासकार जैनेंद्र कुमार ने 'घर' से 'बाहर' आई नारी के रूप में उसे बड़े साहसिक व विवादास्पद ढंग से प्रदर्शित करते हुए पर-पुरुषोंसंग संबंध रखने वाली नारी के रूप में दर्शाया है। यह सच है कि वह पैसे के माध्यम से प्रेम का व्यापार करती है, लेकिन उसका संपूर्ण व्यक्तित्व धन-संपत्ति पर आधृत हमारी समूची सभ्यता पर एक करारा व्यंग है, कटाक्ष है। रंजना का स्पष्ट कहना है कि समाज में नारी की दुर्दशा के लिए धन-संपत्ति पर आधारित हमारी यही सभ्यता जिम्मेदार है। साथ ही, उसका यह भी मानना है कि विवाह के अंतर्गत नारी पत्नी होकर भी पुरुष को वह नहीं दे सकती, जिसका वह भूखा होता है। और इसीलिए वह अपनी उस भूख को मिटाने बाहर उन जैसी नारियों के पास आता अथवा जाता है—नारी पत्नी रूप में वह सब नहीं दे पाती, जिसे पुरुष चाहता है—स्त्री से संतान पाकर कोई पति तुष्ट नहीं रहता, उसे कुछ और भी चाहिए। वह चाहिए, जिसमें कर्तव्य न हो, कुछ वह कि जिसमें निषेध का भी रस हो।⁵

रंजना के चारित्रिक-वैशिष्ट्य में सर्वाधिक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि सामान्य कॉलगर्ल अथवा देह का व्यापार या व्यवसाय करने वाली स्त्रियों से उसका दृष्टिकोण बिल्कुल भिन्न है। रंजना सब संबंधों से टूटकर एक नये संबंध को जन्म देती है और फिर सब संबंधों से परे, ऊपर हो जाती है। सबसे उसका प्रेम का ही संबंध हो जाता है। वह अपनी नैसर्गिक देह को मूलधन समझती है और इसीलिए उसे सदा-सर्वदा सुरक्षित रखती है। वह अपने पास आने वाले पुरुषों का मानसिक उपचार करते हुए उन्हें सिर्फ और सिर्फ अपनी करुणा, ममता प्रदान करती है। इसीलिए उसको भोगने की आकांक्षा से पास आने वाले सभी पुरुष उससे आहत, नाराज व क्षुब्ध होते हैं तथा उसका अपमान करके चले जाते हैं। उपन्यास में रंजना का स्पष्ट सोचना है—पुरुष के द्वारा स्त्री माता बनती है, समाज-व्यवस्था उस पुरुष को पति और पिता की संज्ञा देती है। दोनों स्थितियां उसने भोगी और भुगती हैं, पर मालूम हुआ उतना पर्याप्त नहीं होता है। कृतार्थता के लिए कुछ और चाहिए। उस कुछ और का मंत्र जैसे पैसे में बंद है।⁶ फिर वह देहके आकर्षण-व्यापार में लग जाती है। उसके पास पैसा आने लगता है जिसे वह समाज-सेवा में लगाती है और प्रतिष्ठा पाती है।

रंजना का समूचे व्यक्तित्व दुर्घर्षजिजीविषा से संपन्न एक अत्यंत साहसिक नारी का चारित्र्य बन पड़ा है जो संपूर्ण पुरुष जाति के प्रति करुणा व ममता से आप्लावित है। वह साहस-पूर्वक विवाह जैसी सामाजिक संस्था को तोड़ती ही नहीं है बल्कि देहका, प्रेम का व्यवसाय चलाकर पृथक व्यक्तित्व तथा अपने लिए समाज से ऊपर प्रतिष्ठा का स्थान अर्जित कर लेती है। विवाह संस्था से टूटकर, घर-गृहस्थी से अतृप्त होकर, अपने पति से आहत होकर स्वनिर्मित एक नवीन मार्ग पर चलकर वह तृप्ति

खोजती है और अन्य पुरुषों को भी तृप्ति देने का प्रयत्न करती है तथा जिसे वह पूर्णतया नैतिक मानती है। उसके चरित्र में अंतर्द्वंद्वं वहां उभरता मिलता है जहां वह अशरीरीप्रेम का व्यापार करती - करती खुद से ऊब जाती है। उसे अपने संबंधों में एक और भी संदेह हो निकलता है। वह स्वयं में ही कुछ कमी, त्रुटि पाने लगती है। उसे लगता है कि वह जगत की है नहीं, हो नहीं पाती है सिर्फ वहां से संवाद प्राप्त करती है। सिर्फ दृष्टा एवं दर्शक बने रहने में उसे आनंद नहीं आता। वह देखती और अनुभव करती है कि वह जानती ही ज्यादा है, जीती कम है। उसमें जानने वाला ऊपर आ गया है, जीने वाला नीचे खिसक-सारहा है।¹ वह एक पत्र लिखती है--“मैं निर्वैयक्तिक संबंधों से उकताती-सीजा रही हूं। इनमें अपने को सुरक्षित रख लिया है। तुम जानते हो मैं अपनी सुरक्षा में विश्वास खो बैठी हूं।”² वह सोचने लगी कि जो सात बरस से उससे अलग है उसी अपने शेखर को बुला ले। वह अपने छोटे प्यार की स्मृति में वापिस लौट आना चाहती है और उसकी जिंदगी में एक नवीन मोड़ आता है। वह तार भेजकर शेखर को बुलाती है और उसके माध्यम से पुनः घर, गृहस्थीव परिवार में वापिस लौट आना चाहती है। रंजना की कथा यहीं पर समाप्त होती है।

वस्तुतः रंजना के माध्यम से उपन्यासकार ने यही कहना चाहा है कि कोई भी स्त्री चाहे कितनी उन्मुक्त-स्वच्छन्द जिंदगी बसर करे, कुछ समय बाद वह निर्वैयक्तिक संबंधों से उकता जाती है, ऊब जाती है। उसकी प्रकृति-प्रदत्त प्रवृत्ति अपनी एक छोटी-सी दुनिया में खोए रहने की है, उसमें रमे रहने की ही है। और पुरुष को भी अपने लिए सब प्रकार की छूट लेकर, उसे कई प्रकार के बंधनों में जकड़ने, उस पर अपने अहंको थोपने, उसे एक ‘कमोडिटी’, वस्तु समझने की दुच्छी-मानसिकता से ऊपर उठना होगा, अन्यथा रंजना जैसी स्त्रियां उसके विरुद्ध विद्रोह करती रहेंगी।

‘उपन्यासकार जैनेन्द्र: मूल्यांकन और मूल्यांकन’ में डॉ. मनमोहन सहगल का स्पष्ट मत है, कि — उन्होंने अपने सभी उपन्यासों में नारी जीवन के ये तीनों पहलू--सेक्स, प्रेम और विवाह ही अपनाकर घोर आस्थावान नारियों के निरंतर संघर्ष से पुरुष की अनैतिकता को नैतिकता में बदलने का उपचार किया है।³ सुखदा और रंजना दोनों प्रमुख नारी-चरित्रों के संदर्भ में भी पाठकों को यही सब कुछ देखने को मिलता है। कहना न होगा, कि उपन्यासकार जैनेन्द्र कुमार के नारी चरित्रों में ‘सुखदा’ की नायिका सुखदा तथा ‘दशार्क’ की रंजना का चारित्र्य एक विशिष्ट जीवन दर्शन — जैनेन्द्रीय दर्शन — से अनुप्रेरित है जो वैयक्तिकता के स्तर पर नारी-स्वातंत्र्य की चेतना से परिपुष्ट हो, नव-मूल्यों की स्थापना के लिए आवेगशील व आक्रामक मनोस्थितियों वाले विद्रोहात्मक तेवरों से सम्पृक्त होकर पाठकों के समक्ष आता है।

¹ जैनेन्द्र के उपन्यासों की विवेचना, डा. विजयकुलश्रेष्ठ, पृ. 211

² सुखदा जैनेन्द्र कुमार, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 7-8

³वही,पृ. 42

⁴वही,पृ. 22

⁵वही,पृ. 5

⁶सितंबर,1983,पृ. 24

⁷सारिका ,16सितम्बर,1983,पृ. 25

⁸वही ,16अक्टूबर,पृ. 61

⁹वही ,30 नवम्बर,पृ. 63

¹⁰वही ,15 फरवरी1984,पृ. 63

¹¹उपन्यासकार जैनेन्द्र: मूल्यांकन और मूल्यांकन,डा.मनमोहनसहगल,पृ. 73